तीर्थंकर और ईश्वर के सम्प्रत्ययों का तुलनात्मक विवेचन

- प्रो. सागरमल जैन

धर्म श्रद्धा पर आधारित है और श्रद्धा का कोई केन्द्र-बिन्दु होना चाहिए। इसी केन्द्र-बिन्दु के रूप में धर्म के अन्तर्गत ईश्वर की अवधारणा निर्मित हुई है। विश्व के सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में श्रद्धा के केन्द्र-बिन्दु के रूप में ईश्वर का प्रत्यय स्वीकृत रहा है तथापि उसके स्वरूप एवं नाम के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मों के अलग-अलग दृष्टिकोण हैं। बौद्ध धर्म में उसे अर्हत, बुद्ध, धर्मकाय और जैनधर्म में परमात्मा, तीर्थंकर, वीतराग, अरहन्त आदि नामों से अभिहित किया गया है। सभी धर्मों में उस परमात्मा या ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, समस्त दोषों से रहित और समस्त गुणों का पुंज माना गया है। इन अवधारणाओं के सन्दर्भ में सामान्य रूप से विभिन्न धर्मों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है किन्तु कुछ अन्य ऐसी अवधारणाएँ हैं जिन्हें कुछ धर्म स्वीकार नहीं करते। जैसे -- ईश्वर अद्वितीय है, वह एकमेव है, वह विश्व का स्रष्टा और नियन्ता है, वह अपनी असीम करुणा के द्वारा अपने भक्तों का कल्याण और दुष्टों का संहार भी करता है।

जहाँ तक जैनधर्म का प्रश्न है उसमें भी परमात्मा को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान् और आनन्दपुंज के रूप में अनन्त-चतुष्टय से युक्त माना गया है, किन्तु वह न तो ईश्वर या परमात्मा को विश्व का स्रष्टा और नियन्ता मानता है और न उसे संसार के प्राणियों के अपने शुभाशुभ कर्मों का फल-प्रदाता के रूप में स्वीकार करता है। इसी प्रकार उसमें एक मात्र अद्वितीय ईश्वर की अवधारणा के स्थान पर अनेक परमात्माओं, अरहन्तों (तीर्थंकरों) एवं सिद्धों की कल्पना की गयी है। यद्यपि उपनिषदों में "अहं ब्रह्मास्मि" के उद्घोष के द्वारा आत्मा और परमात्मा में या जीव और ईश्वर में तादात्म्य माना गया था तथापि आगे चलकर हिन्दू-परम्परा में ईश्वर को अंशी और जीव को अंश मानकर इस सूत्र की व्याख्या की गयी। वस्तुतः जब ईश्वर को अद्वितीय और एकमेव मान लिया जाता है तो जीव और जगत् की उससे स्वतन्त्र या पृथक् सत्ता नहीं स्वीकार की जा सकती थी। यही कारण रहा कि पूर्व और पश्चिम के अधिकांश धर्मों में जीव और जगत् को ईश्वरीय संकल्प से अभिव्यक्त एवं संचालित माना गया और विश्व-व्यवस्था को ईश्वरीय-इच्छा के अधीन माना गया।

जैन-दार्शनिकों को विश्व-स्रष्टा और विश्व-नियन्ता ईश्वर की यह अवधारणा मान्य नहीं रही है। उनका कथन है कि आप्तकाम पूर्ण ईश्वर या वीतराग परमात्मा विश्व के निर्माण, विनाश और संचालन की प्रक्रिया में क्यों उलझेगा ? जो आप्तकाम है, पूर्ण है उसमें कोई इच्छा या कामना शेष ही नहीं रहती है और बिना इच्छा या कामना के कोई भी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। अतः ईश्वर के द्वारा विश्व का सर्जन, विनाश या संचालन सम्भव नहीं है। पुनः यदि ईश्वर में कोई सृजन, संहार या पालन की इच्छा शेष रहती है तो वह पूर्ण और आप्तकाम तो नहीं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा जा सकेगा, क्योंकि इच्छा की उपस्थिति अपूर्णता की सूचक है और जो अपूर्ण है, जिसकी कोई इच्छा शेष रही है, वह ईश्वर तो नहीं हो सकता है। अतः आप्तकाम पूर्ण ईश्वर या परमात्मा के द्वारा स्वेच्छा से लीला के लिए विश्व के सृजन, संहार आदि की क्रियायें सम्भव ही नहीं हैं।

पुनः यदि कहा जाय कि ईश्वर तो जीवों के कर्मानुसार ही सृष्टि की रचना कर उनके सुख-दुःख की व्यवस्था करता है तो इसके उत्तर में जैन दार्शनिकों का कहना है कि ऐसी स्थिति में हमें विश्व-व्यवस्था में कर्म के नियम को ईश्वर के ऊपर स्वीकार करना होगा। यदि हम यह मानें कि ईश्वर भी कर्म-नियम की व्यवस्था के अनुसार ही प्राणियों को उनके शुभाशुभ फल देने को बाध्य है और अपनी इच्छा से उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता है तो फिर यह सर्वशक्ति-सम्पन्न ईश्वर का उपहास ही होगा। एक ओर उसे सर्वशक्तिमान् मानना और दूसरी ओर उसे स्वेच्छा से किंचित् परिवर्तन का भी अधिकार न देना निश्चय ही सर्वशक्तिमान् ईश्वर के साथ खिलवाड़ है। इस सिद्धान्त के अनुसार तो ईश्वर विश्व-व्यवस्था में एक ऐसा व्यवस्थापक है, जिसे पद तो दिया गया है किन्तु अधिकार नहीं। एक ओर ईश्वरीय व्यवस्था को कर्म-नियम के अधीन मानना और दूसरी ओर कर्मफल की व्याख्या के लिए ईश्वर की आवश्यकता बताना कर्म-नियम और ईश्वर दोनों का ही उपहास है। यही कारण है कि जैन परम्परा में न तो ईश्वर को विश्व का स्रष्टा और संचालक माना गया और न ही उसे कर्मफल का प्रदाता ही बतलाया गया है। जैन-विचारकों का कहना है कि जिस प्रकार विषपान करने वाला उसके प्रभाव से नहीं बच सकता, उसी प्रकार कर्मों का कर्त्ता भी उसके प्रभाव से नहीं बचता। जिस प्रकार भाँग, शराब आदि नशीली वस्तुएँ उनके उपभोग के एक निश्चित समय के पश्चात् उनके खाने वाले की इच्छा की अपेक्षा किये बिना स्वतः ही अपना प्रभाव दिखलाती हैं उसी प्रकार कर्म भी स्वतः अपना फल प्रदान करते हैं, उसमें व्यवस्थापक (ईश्वर) की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीमद् रामचन्द्र लिखते हैं--

झेर सुधासमजे नहीं, जीव खाय फल धाय।
एम शुभाशुभ कर्म नो, भोक्तापणुं जणाय।।

जैन आचार्यों की दृष्टि में आत्मा ही अपने शुभाशुभ कर्मों का कर्त्ता व उनके फलों का भोक्ता है। कर्मों के कर्त्ता चेतन-आत्मा के द्वारा ही स्वयं उसकी वासना और कषायों के आधार पर कर्म के फल-विपाक का प्रकार उसकी कालावधि और तीव्रता आदि का निश्चय हो जाता है। अतः कर्मफलप्रदाता के रूप में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। फिर भी जैन दार्शनिक हरिभद्र ने सृष्टिकर्त्ता और फलप्रदाता ईश्वर सम्बन्धी इन अवधारणाओं को जैन-परम्परा से सम्मत बताने का प्रयास किया है। वे लिखते हैं कि "जीव मात्र तात्त्विक दृष्टि से परमात्मा ही है और वह अपने संसार (भव-भ्रमण) का सृष्टिकर्त्ता है, साथ ही स्वयं अपने कर्मों का कर्त्ता और उनके फल-विपाक का निर्धारक है।" इस तात्विक दृष्टि से विचार करने पर विश्व एवं कर्म-नियन्ता के रूप में ईश्वरवाद की अवधारणा भी जैन परम्परा से सम्मत, निर्दोष एवं व्यवस्थित सिद्ध हो जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भारतीय एवं इतर धर्मों में ईश्वर के सम्बन्ध में दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा यह है कि ईश्वर परम कारुणिक है। जैन-परम्परा में तीर्थंकर को और बौद्ध-परम्परा में बुद्ध को भी परम कारुणिक कहा गया है फिर भी तीर्थंकर या बुद्ध की कारुणिकता में और ईश्वर की कारुणिकता में अन्तर है। ईश्वर की कारुणिकता को कर्म-नियम के ऊपर स्वीकार किया गया है। परम-कारुणिक ईश्वर अपने भक्तों के समस्त अपराधों को अपनी कृपा या करुणा से समाप्त कर सकता है। इस प्रकार इन धर्मों में ईश्वर की कारुणिकता को कर्म-नियम की व्यवस्था से भी ऊपर माना गया है। गीता (18/65-66) में भगवान कृष्ण कहते हैं कि "तू मेरे में मन लगा, मेरे में जी और मुझे नमस्कार कर मैं तुझे सर्व पापों से मुक्त कर दूँगा।" किन्तु जैन तीर्थंकर अपने भक्त को इस प्रकार का कोई आश्वासन नहीं दे सकता क्योंकि उसकी करुणा कर्म-नियम से परे नहीं है। जैन दार्शनिकों के अनुसार यदि परम कारुणिक ईश्वर की करुणा कर्म के नियम का अतिक्रमण कर जाती है तो कर्म-नियम का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता और कर्म-नियम के अभाव में धर्म, नैतिकता आदि स्वेच्छाचारी व्यक्ति से अधिक कुछ नहीं रहता। स्वेच्छाचार नियम-व्यवस्था का विरोधी है और जो नियम या व्यवस्था का विरोधी हो उसे ईश्वर कैसे कहा जा सकता है ? पुनः यदि ईश्वर की करुणा को कर्म-नियम के अधीन कार्य करने वाली माना जाय तो वह करुणा वस्तुतः करुणा नहीं होती। नियमानुसार दण्ड देने वाला न्यायाधीश करुणाशील नहीं कहा जायेगा।

यदि कारुणिक ईश्वर का कार्य कर्म-नियम से अनुशासित है तो फिर ऐसे ईश्वर के ईश्वरत्व का न तो कोई महत्त्व रहता है और न उसकी करुणा का कोई अर्थ। अतः ईश्वरीय कृपा का यह अर्थ कि ईश्वर स्वेच्छा से चाहे जिसका कल्याण या अकल्याण कर सकता है अथवा यह कि वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपने भक्तों का कल्याण और दुष्टों का संहार करता है तो यह बात ईश्वर के ईश्वरत्व की दृष्टि से युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती है। यदि यह माना जाय कि ईश्वर अपने भक्तों के भक्ति से उसके पापों को भी क्षमा कर देता है तो ऐसा ईश्वर चापलूसी पसन्द व्यक्ति से भिन्न नहीं होगा। वह न तो वीतराग हो सकता है और न ही विवान्त-वैर। जैन-दार्शनिक जिस तीर्थंकर परमात्मा की कल्पना करते हैं वह तो वीतराग और विवान्तवैर है। वस्तुतः वह न तो किसी का कल्याण करता है और न ही अकल्याण। वह व्यक्ति के आत्म-विकास के लिये मात्र प्रेरणा-स्रोत होता है, निमित्त होता है।

जैन-दर्शन में भी परमात्मा या तीर्थंकर को परम कारुणिक माना गया है। तीर्थंकर की कारुणिकता की चर्चा अनेक जैन-कवियों ने की है। जयाचार्य लिखते हैं--

सुखदायक सहु जगभणी तूं ही दीनदयाल।
शरण आयो तुझ साहिबा तूं ही परमकृपाल।।
गुणगातां मन गहगहे सुख सम्पत्ति जाण।
विघन मिटे समरण किया, पामे परम कल्याण।।

- पद्मप्रभु जिनस्तवन

किन्तु उसकी यह करुणा स्वयं उसकी अपनी भाव-भूमि तक ही सीमित है। उसकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारुणिकता का अर्थ इतना ही है कि वह सबके कल्याण की भावना रखता है किसी का अहित नहीं सोचता है और न किसी का अहित करता ही है। वह अहिंसा के उपदेश के माध्यम से भव्य आत्माओं को दूसरों के अहित और हिंसा से दूर रहने का निर्देश देता है। इस प्रकार परमात्मा या तीर्थंकर की करुणा ईश्वरवादियों के द्वारा कल्पित ईश्वरीय करुणा से भिन्न होती है। तीर्थंकर या बुद्ध जन-जन के कल्याण मार्ग के पथ-प्रदर्शक और समस्त प्राणियों के कल्याण की भावना से युक्त और किसी भी प्राणी के अकल्याण/अहित की भावना से विरत होते हैं। जबकि ईश्वरवादियों का ईश्वर भक्तों के कल्याण एवं दुष्टों के संहार इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों से युक्त है। तीर्थंकर, अर्हन्त या बुद्ध की प्रकृति एक सन्त की प्रकृति है। जबकि ईश्वर की प्रकृति एक शासक की प्रकृति है। तीर्थंकर और बुद्ध की करुणा एक संत-हृदय की करुणा है जबकि ईश्वरीय करुणा एक शासक की करुणा है। अतः दोनों में भिन्नता है।

ईश्वर के संसार में अवतरण के प्रयोजन के सन्दर्भ में गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं धर्म की स्थापना, साधुओं की रक्षा और दुष्टों के विनाश के लिये संसार में युग-युग में उत्पन्न होता हूँ। जैन-चिन्तन में तीर्थंकर के जन्म का प्रयोजन भी धर्म की स्थापना ही होता है। वह भी संसार के प्राणियों का दुःख और पीड़ाएँ कम हों इसी उद्देश्य से धर्म-तीर्थ की स्थापना करता है। इस प्रकार ईश्वर के अवतरण और तीर्थंकर के जन्म के प्रयोजन में आंशिक रूप से समानता है। किन्तु जहाँ तीर्थंकर धर्म की स्थापना के द्वारा प्राणियों की दुःख-विमुक्ति के लिये जो प्रयत्न करता है वे मात्र दिशा-निर्देशन तक सीमित है। वह प्राणियों को दुःख-विमुक्ति का मार्ग बतलाता है किन्तु किसी को दुःख से मुक्त नहीं करता। इसमें मुक्ति तो स्वयं प्राणी अपनी साधना या पुरुषार्थ से पाता है। तीर्थंकर तो मात्र पथ-प्रदर्शक होता है। इस प्रकार तीर्थंकर की करुणा और उसके प्राणियों की दुःख-विमुक्ति के प्रयत्नों की प्रकृति निवृत्ति-मार्गीय परम्परा के अनुरूप निषेधात्मक ही होती है। उसके विपरीत ईश्वर एक सक्रिय व्यक्तित्व होता है। वह न केवल धर्म की स्थापना करता है अपितु साधुजनों का त्राण और दुष्टों का विनाश भी करता है। ईश्वर के अवतरण के प्रयोजन में दुष्टों के विनाश द्वारा ही साधुजनों के परित्राण और धर्म-स्थापना की बात कही गयी है। इस प्रकार जहाँ तीर्थंकर का प्रयोजन प्राणियों की दुःख-विमुक्ति हेतु धर्म-मार्ग की स्थापना करना है वहाँ अवतार का प्रयोजन दुष्टों के विनाश एवं साधुजनों की रक्षा के द्वारा ही धर्म की स्थापना करना है। इस प्रकार दोनों में प्रयोजन की दृष्टि से भिन्नता है।

ईश्वर के अवतार और तीर्थंकर के जन्मग्रहण में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि अवतारवाद की अवधारणा में एक ही ईश्वर बार-बार संसार में जन्म लेता है, जबकि तीर्थंकर या बुद्ध की अवधारणा में प्रत्येक तीर्थंकर या बुद्ध भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते हैं। जहाँ सभी अवतार भिन्न-भिन्न होते हुए भी उसी एक ईश्वर के अवतार होते हैं। वहाँ प्रत्येक तीर्थंकर एक भिन्न व्यक्ति होता है जो अपनी साधना के द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता की इस अवस्था को प्राप्त करने हेतु काल और क्षेत्र विशेष में जन्म ग्रहण करता है। इस प्रकार ईश्वर एक है जबकि तीर्थंकर या बुद्ध अनेक। पुनः ईश्वर का विश्व में अवतरण होता है, वह विमुक्त दशा से संसार-दशा में आता है जबकि तीर्थंकर संसार-दशा से विमुक्त अवस्था को प्राप्त होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है और उसका संसार में पुनरागमन नहीं होता। इस प्रकार दोनों अवधारणाओं में एक मौलिक अन्तर है। ईश्वर ऊपर से नीचे आता है उसका अवतरण होता है जबकि तीर्थंकर नीचे से ऊपर जाता है, उसका उत्तरण होता है।

ईश्वरवाद और तीर्थंकरवाद की अवधारणाओं में अन्य एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि तीर्थंकर की अवधारणा में मानव की स्वतन्त्रता स्थापित होती है, क्योंकि जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में स्व पुरुषार्थ से परमात्मा बनने की क्षमता है। जबकि ईश्वरवाद में मनुष्य को ऐसी कोई स्वतन्त्रता नहीं होती, वह मात्र ईश्वर के हाथ की कठपुतली होता है। इस प्रकार ईश्वरवाद मनुष्य को दास बनाता है। उसमें भक्त या उपासक की स्थिति सदैव ही सेवक की बनी रहती है। मनुष्य की इस दयनीय स्थिति को स्पष्ट करते हुए एक उर्दू शायर ने कहा है--

"इंसा की बदबख्ती अन्दाज से बाहर है।
कमबख्त खुदा होकर बन्दा नजर आता है।।"

जैनधर्म मनुष्य को परमात्मा बनने की प्रेरणा देता है। उसमें भक्त, भक्त नहीं रहता भगवान बन जाता है। उपाध्याय देवचन्द्र जी लिखते हैं --

अजकुलगत केशरी लहेरे निज पद
तिम प्रभुभक्ति भवि लहेरे आतम शक्ति।

सन्त आनन्दघनजी पूर्ण आत्मविश्वास के साथ लिखते हैं -- "तुझ मुझ अन्तर भांज से बाज से मंगलतर"। हे प्रभु ! एक दिन आपके और मेरे बीच का यह अन्तर समाप्त होगा और मंगल वाद्य बजेंगे।

यह सत्य है कि उपास्य के रूप में ईश्वर या परमात्मा की अवधारणा को सभी दार्शनिकों ने मान्य किया है वे सब यह मानते हैं कि साधना के क्षेत्र में उपास्य का होना आवश्यक है। जैनधर्म में तीर्थंकर अर्हन्त को भी उसी तरह से उपास्य के रूप में स्वीकार किया गया है जिस प्रकार अन्य धर्मों में ईश्वर को। फिर भी दोनों परम्पराओं में अन्तर है। जैन परम्परा में साधना की पूर्णता पर उपास्य या उपासक का यह अन्तर समाप्त हो जाता है। जबकि ईश्वरवादी परम्पराओं में मात्र अद्वैत-वेदान्त को छोड़कर शेष सभी में यह अन्तर बना रहता है क्योंकि आत्मा कभी भी परमात्मा या जीव कभी भी ईश्वर नहीं बन सकता। ईश्वरवादी परम्पराओं में आत्मा और परमात्मा के बीच की खाई कभी भी पटती नहीं है, जबकि जैन परम्परा में वह खाई या दूरी समाप्त हो जाती है।

पुनः ईश्वरवादी परम्पराओं में ईश्वर अपने भक्त की पीड़ा को दूर करने में समर्थ माना गया है। जबकि तीर्थंकर अपने भक्त के कष्टों को दूर करने में असमर्थ है। ईश्वरवाद में ईश्वर को सक्रिय और भक्त को निष्क्रिय होने का संदेश है। ईश्वर कहता है "बस तू तो मेरी शरण में आ जा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूंगा।" इसके विपरीत तीर्थंकर पुरुषार्थ की प्रेरणा देते हुए कहता है "तेरा उत्थान और पतन मेरे हाथ में नहीं है तेरे ही हाथ में निहित है"। इस प्रकार ईश्वर और तीर्थंकर दोनों ही उपास्य हैं। फिर भी उन दोनों की भक्त या उपासक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की कल्याण-सामर्थ्य में भिन्नता है। हम यह पूर्व में ही सूचित कर चुके हैं कि ईश्वरवादी परम्पराओं में भक्त और भगवान् में एक अन्तर बना रहता है। उपास्य सदैव उपास्य रहता है और उपासक सदैव उपासक। भक्त भगवान के अति निकट तो हो सकता है लेकिन कभी भी भगवान नहीं बन सकता है। जबकि जैन परम्परा में उपास्य और उपासक का भेद एक सीमा तक ही रहता है। एक दिन ऐसा होता है जब उपासक स्वयं उपास्य बन जाता है।

यह भी सत्य है कि ईश्वर या परमात्मा की कल्पना साधना के आदर्श या साध्य के रूप में भी की जाती है। ईश्वर या परमात्मा का व्यक्तित्व समस्त दोषों से रहित और समस्त गुणों से युक्त माना गया और उस जैसे व्यक्तित्व को प्राप्त करना ही साधकों का साध्य माना जाता है। भक्तिमार्गी परम्परा में इसे सारूप्य-मुक्ति कहा गया है। ईश्वरवादी परम्पराओं में यही भक्त या उपासक की चरम उपलब्धि है। पुनः ईश्वरवाद में ईश्वर साधना का आदर्श होते हुए भी सदैव आदर्श ही रहता है क्योंकि भक्त और भगवान के मध्य एक दूरी सदैव बनी रहती है। जबकि जैन परम्परा में परमात्मा ऐसा कोई बाह्य-साध्य नहीं है जो व्यक्ति से भिन्न हो, उसकी साधना का साध्य, साधक आत्मा व्यक्ति से भिन्न नहीं है। वह उसी में है। उसे वही पाना है, जो उसकी सत्ता का सार है।

ईश्वरवाद में साध्य या आदर्श ऐसा ईश्वर होता है, जिसकी सत्ता व्यक्ति से पृथक है। जीव और ईश्वर में अंश-अंशी भाव मानने पर भी अंशी ईश्वर को अंश जीव से अधिक व्यापक तो मानना ही होगा। अधिक व्यापक होने पर भी भिन्नता तो रहेगी। जैसे बूँद समुद्र में होते हुए भी समुद्र तो नहीं हो जाती है। बूँद चाहे समुद्र में हो या समुद्र से बाहर वह सदैव बूंद ही रहेगी जबकि जैन-परम्परा में प्रत्येक व्यक्ति का साध्य उसकी अपनी ही आत्मा का वह शुद्ध स्वरूप है, जिसे परमात्मा कहा जाता है। उसमें साध्य, साधक और साधन तीनों में अन्तर नहीं है। साध्य भी आत्मा है, साधन भी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं और साधक भी आत्मा ही है। साधना का अर्थ है आत्मा के द्वारा आत्मा की उपलब्धि। अशुद्ध आत्मा साधक है। आत्मा के शुद्धीकरण का प्रयास साधना है और अपने ही शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि साध्य है। इसी दृष्टि से सन्त आनन्दघन ने कहा है --

जिन सरूप थइ जिन आराधे, ते सहि जिनवर होवे रे।
भृङ्गी इलिकाने चटकावे, ते भृङ्गी जग जोते रे।।

इस प्रकार जैन-साधना में साध्य या परमात्मा साधक से अभिन्न है। उसमें आदर्श मात्र आदर्श नहीं रहता, अपितु यथार्थ बन जाता है और यही उसकी विशेषता है। * * *

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org